

## उत्तर-आधुनिकता की पश्चिमी और हमारी अवधारणा में अंतर है।

(देश के वरिष्ठ भाषाविद और मैथिली एवं बंगाली के साहित्यकार व अनुवादक प्रो. उदय नारायण सिंह 'भारतीय भाषा संस्थान, मैसूर' के एक सफल निदेशक के बाद शांतिनिकेतन में रवीन्द्र नाथ ठाकुर से जुड़े अनछूए दस्तावेजों के संकलन, संपादन एवं विश्लेषण के साथ देश की संकटग्रस्त भाषाओं के संरक्षण की योजना में व्यस्त हैं, प्रस्तुत है उनसे की गई बात-चीत के मुख्य अंश)

**अरिमर्दन – आपकी दृष्टि में भारतीय भाषाई अध्ययन की विरासत में कौन-कौन तत्त्व महत्वपूर्ण थे?**

**उदय नारायण सिंह –** भारत के भाषाई अध्ययन की विरासत बहुत पुरानी है, इसको प्राचीन भाषाविज्ञान कहा जा सकता है, जिसकी शुरुआत संस्कृत भाषा के अध्ययन और शोध-कार्य के साथ हुई थी, तब सबसे बड़ा विषय यह था कि भाषा के वैविध्य, लचीलेपन और अन्य बदलावों को कैसे रोका जाए और एक मानक रूप दिया जाए, ऐसा मानक रूप जो भाषा के बदलते-बिगड़ते स्वरूप के बावजूद उसको इस रूप से वर्षों तक बनाए रखे, ताकि वह शास्त्र और गहन अध्ययन-अध्यापन की भाषा बनी रहे। इस चुनौती को संस्कृत भाषा-शास्त्रियों ने इस रूप में लिया कि उनकी पूरी योजना सूत्रबद्धता पर केंद्रित हो गई, ताकि कम शब्दों एवं कम सूत्रों में संस्कृत के व्याकरण को बाँधकर रख सकें और इसके अध्ययन-अध्यापन में कोई समस्या न आए। इसलिए भाषा की एकरूपता पर भाषाविदों ने विशेष ध्यान दिया, ताकि न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, विज्ञान, ज्योतिष या साहित्य में अफ़गानिस्तान से लेकर नेपाल तक और दक्षिण के श्रीलंका से लेकर हिमालय तक के सभी लोग आपस में शास्त्र-सम्मत चर्चा कर सकें। इसके बाद आधुनिक भाषाविज्ञान का अध्ययन-अध्यापन भारत में शुरू हुआ, जो कि 1916 के बाद की देन है। इसमें आकर बहुत कुछ बदल गया। इसके बाद हमारी आधुनिक भाषाओं के अध्ययन की शुरुआत हुई, जो प्राकृत की नदी से बहते हुए अपभ्रंश के माध्यम से आकर इधर अलग-अलग भाषा या बोलियों में विभाजित हो गईं

हैं। इनके लिए भी आज मानक रूप बनाने आवश्यकता है। दूसरी तरफ आधुनिक भाषाविज्ञान के संदर्भ में जब मानववैज्ञानिक दृष्टि से हम भाषाओं को देखते हैं, तो भाषाओं की यही विभिन्नताएँ महत्वपूर्ण सूचक के रूप में सामने आती हैं। इसलिए आज की चुनौती है कि अलग-अलग बोलियों एवं इनके रूपों को कैसे विश्लेषित किया जाए। इस प्रकार विरासत को देखें, तो उसमें भाषाई अध्ययन में शास्त्रार्थ, अध्ययन-अध्यापन और ज्ञान-विज्ञान को आगे बढ़ाने के लिए संस्कृत भाषा को किस तरह से मानक रूप में बांधने की मूल चिंता थी। आज यही चिंता विभिन्न बोलियों एवं और इनके विभेदन को लेकर है।

**अरिमर्दन – भारत एक लोकतांत्रिक देश है और बहुभाषिकता इसकी मूल पूँजी है। ऐसे में राष्ट्रवाद की अवधारणा और उसमें राष्ट्रभाषा की भूमिका को आप कैसे देखते हैं?**

**उदय नारायण सिंह-** यह तो बहुत कठिन सवाल है। पहले यह तय करना पड़ेगा कि राष्ट्रभाषा एक हो या अनेक। यदि किसी एक राष्ट्रभाषा की कल्पना हम करते हैं, तो भारत को उन देशों के समकक्ष रखने का प्रयास करते हैं, जो आकार में छोटे हैं, जहाँ की जनसंख्या एवं विविधता कम है, जहाँ अलग-अलग संस्कृतियों के लिए कोई जगह ही नहीं है। सिर्फ ऐसी स्थिति में ही एक राष्ट्र के लिए एक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता हो सकती है, ताकि वे आपस में लोगों को एक प्रतीक से बाँध सके। अब भारतीय बहुभाषिकता में भाषा, धर्म, संस्कृति और शास्त्र तथा इसकी मान्यताओं में पर्याप्त विविधता है। इसके साथ कई आधुनिक विचारधाराएँ भी एक साथ कार्यरत हैं। वैसे भी भारत की प्रसिद्धि ही इसमें है कि एक ही तरह की चिंता एवं भावना को कितने अलग-अलग तरीके से वर्णन किया जा सकता है। यहाँ की बहस इसीलिए आगे बढ़ती गई कि हमने अलग-अलग तरीके से सोचना सीखा है और कभी तर्क को छिपाया नहीं है, बल्कि प्रोत्साहित किया है। कभी हमने किसी सवाल पूछने वाले को मना नहीं किया है। इस प्रकार भारत में बहुभाषा, बहुसंस्कृति, बहुधर्म की ओर से हर तरह से विविधता की चर्चा होती रही है। ऐसी स्थिति में एक विविधता वाले राष्ट्र की तुलना सामान्य देशों से नहीं की जा सकती। इस प्रकार भारत में एक राष्ट्रभाषा हो, यह सोचना बहुत कठिन काम है, क्योंकि प्रादेशिक स्तर पर बहुत सारे लोग ऐसे होंगे ही, जिन्हें राष्ट्रीय स्तर पर कार्यरत राजभाषा का सम्यक ज्ञान न हो। इसके साथ कुछ ऐसे लोग भी होंगे, जिनको प्रादेशिक सत्र की राजभाषा का भी ज्ञान हो और राष्ट्रीय स्तर की राजभाषा का भी ज्ञान न हो। कुछ ऐसे

लोग भी होंगे, जिनको दोनों तरह की राजभाषाओं का ज्ञान न हो, जो केवल कामकाज के लिए अपनी भाषा का प्रयोग करते हैं और हो सकता है एक साथ चार-पाँच बोलियाँ बोल लेते हों, लेकिन फिर भी राजभाषाओं के ज्ञान से दूर हों। अब राष्ट्र तो सबका राष्ट्र है। कोई यह नहीं कह सकता है कि जो राजभाषा में काम कर सकता है, केवल उसी के लिए राष्ट्र बना है। राजभाषा चाहे प्रादेशिक स्तर या राष्ट्रीय स्तर की हो, वह केवल एक सुविधा के लिए है, जो सरकारी कामकाज में एकता और मानकता की दृष्टि से स्वीकारी गई है, ताकि कानून और उसकी व्याख्या में मत-भिन्नता न हो। ऐसा देखा गया है कि भारत जैसे बहुभाषिक देशों में अनेक भाषाएँ राष्ट्रभाषा के रूप में उभर कर आती हैं। यह स्थिति अफ्रीकी देशों एवं अमेरिका में है। यूरोप में कई ऐसे देश हैं, जहाँ एकाधिक भाषाएँ राष्ट्रभाषा के रूप में कार्य कर रही हैं। इस प्रकार कई राष्ट्रभाषाओं की माँग स्वाभाविक ही है। भारत के संबंध में राष्ट्रवाद अपनी जगह है और राष्ट्र के संचालन की चुनौती अलग है। इसके साथ राष्ट्रभाषा एवं राजभाषाओं के चयन और उसके निर्माण एवं प्रयोग की प्रक्रिया अलग है। ये तीन अलग-अलग मुद्दे हैं। चूँकि भारत एक राष्ट्र है, इसका हम विभाजन नहीं चाहते हैं, इसलिए भारत की एक राष्ट्रभाषा हो, यह एक पुराना तर्क है। आज के वैश्विक अनुभवों के आधार इस तर्क को अमान्य कर देना चाहिए। नए सिरे से सोचना चाहिए कि अगर हम एक ऐसे राष्ट्र का निर्माण करना चाहते हैं, जिसके लिए लोगों के मन में राष्ट्रवाद की भावना भी हो और जिसमें कई भाषाएँ एक साथ राष्ट्रभाषा के रूप में काम कर रही हों, तो उसका निर्माण हम कैसे करें? यह दूसरी चुनौती है, जिसमें हम गुजराती, तमिल, बांग्ला, मराठी एवं पंजाबी को हिंदी या अँग्रेजी के बराबर का दर्जा कैसे दिलाया जा सकता है, इनकी उन्नति कैसे संभव है ये सब भाषाविज्ञानियों एवं समाजशास्त्रियों के लिए चुनौती है और इसको स्वीकार किया जाना चाहिए।

## **अरिमर्दन – भारत में भाषाविज्ञान के अब तक के विकास को आप कैसे देखते हैं?**

**उदय नारायण सिंह-** भारत में भाषाविज्ञान अलग-अलग क्षेत्रों में से कुछ में काफी अच्छा काम विद्वानों ने किया है, जैसे वर्णनात्मक भाषाविज्ञान में व्याकरण के क्षेत्र में भाषा के वर्णन के स्तर पर काफी अच्छा काम हुआ है। इसके बावजूद अनेक भाषाएँ हैं, जिनका वर्णन करना अभी बाकी है। इसमें यह संभव है कि उस वर्णन की जो प्रक्रिया है, उसमें एक-दूसरे के साथ कुछ तत्त्वगत पार्थक्य हो, क्योंकि भाषाविज्ञान में इतने

सिद्धान्त हैं कि प्रत्येक के आधार पर किए गए विश्लेषणों में विभेद या मतभेद संभव है, लेकिन यह भी सही है कि काम हुआ है। दूसरी तरफ समाजभाषाविज्ञान में भी काफी काम हुआ है, लेकिन बहुत काम अभी करना बाकी है। वास्तव में समाजभाषावैज्ञानिक विश्लेषणों में अब हमे किसी भाषा की संदर्भगत गुणात्मक एवं मात्रात्मक विश्लेषण करने की आवश्यकता है, इसी क्षेत्र में हम अभी तक पिछड़े हुए हैं। अभी तक के समाजभाषावैज्ञानिक विश्लेषणों में समाज और भाषा के बीच में क्या संबंध रहे हैं? वर्गगत, जातिगत, अर्थगत, लैंगिक आधारों पर बदलते रिश्ते हमारे समाज में देखे गए हैं। इन क्षेत्रों में भी विस्तृत काम करना अभी बाकी है। इधर कंप्यूटेशनल भाषाविज्ञान में हमने काफी प्रगति की है, उसी के साथ-साथ कोशविज्ञान में भी हमने काफी काम किया है। इधर मनोविज्ञान एवं भाषा-भूगोल जैसे क्षेत्रों में हमारा काम बहुत कम रहा है। इसी तरह भाषा के विभिन्न पक्षों जैसे- खेल, बाजार, व्यापार आदि से जोड़कर काम करने की आवश्यकता है। यह काम केवल भाषाविद ही करें यह आवश्यक नहीं है। इस काम को संस्कृति, मानवविज्ञान, समाजविज्ञान के लोग भी कर सकते हैं। इधर ध्वनिविज्ञान पर भी बहुत काम नहीं हुआ है, जो कुछ हुआ भी है, औच्चारिक पक्ष पर ही केंद्रित रहा है और ध्वनिक और श्रवण पक्ष पर काम नहीं हुआ है। इसके साथ लिपि और इसके ऐतिहासिक विश्लेषण पर भी हमने काफी काम किया है, लेकिन लिपि के विकास के रूप में और लिपि का आधुनिकीकरण एवं मानकीकरण के साथ इसको यूनिकोड से जोड़ने का कार्य किया है। सुलेखन (calligraphy) पर हमारे यहाँ बहुत काम नहीं हुआ है। टैरेटोग्राफी पर तो कुछ काम हुआ ही नहीं है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि हमने बहुत कुछ काम किया है, लेकिन जिस तरह से एक वृहद भाषाविज्ञान का विकास भारत में होना चाहिए था, उस तरह से नहीं हुआ है।

**अरिमर्दन – एक अनुशासन के रूप में भाषा और साहित्य के अंतर्संबंध को आप कैसे देखते हैं ?**

**उदय नारायण सिंह-** भाषा और साहित्य का अंतर्संबंध इतना जटिल एवं परस्पर निर्भर है कि जब कोई साहित्य का अध्यापक भाषाविज्ञान की और कोई भाषाशास्त्री साहित्य की उपेक्षा करता है, तो आश्चर्य लगता है कि किस तरह से दोनों को हम एक-दूसरे से दूर रख सकते हैं। मुझे लगता है कि इन दोनों में काफी गहरा संबंध है। जैसे समय के साथ साहित्य की भाषा में जो बदलाव आ रहे हैं, उनका विश्लेषण एवं अध्ययन करना भाषाशास्त्री का काम है और वहीं एक साहित्यकार का काम है कि अपनी रचनात्मक

विविधता एवं भाषाई प्रयोगों से भाषा को समृद्ध करे। किसी साहित्यकार की रचनात्मकता भाषाई नियमों का अतिक्रमण करती है, इसी अतिक्रमण को भाषाविद को पुनः नियमबद्ध करना होता है। इस तरह यह बहुत रोचक संबंध होता है और एक-दूसरे पर आधारित भी।

**अरिमर्दन – भारतीय भाषाओं के अंतर्वस्तु को अँग्रेजी की तुलना में किस रूप में रेखांकित किया जा सकता है ?**

**उदय नारायण सिंह-** अंतर्वस्तु के निर्माण में अँग्रेजी अग्रणी रही है, इसके विभिन्न प्रयोग-क्षेत्रों के आधार पर भी बहुत काम हुआ है, हालाँकि इसमें भारत जैसे देशों में भी किया गया काम शामिल है, जहाँ अँग्रेजी कोई मूल भाषा नहीं है। यहाँ अँग्रेजी एक महत्त्वपूर्ण भाषा है, लेकिन मूल नहीं। अब सवाल यह उठता है कि इतना विकास अपनी भाषाओं में क्यों नहीं हो पाता है। इसका जवाब देना बहुत कठिन है, क्योंकि बहुत सारे व्यक्ति ऐसे हैं, जो अँग्रेजी लेखन में ही सिद्धस्त हैं, लेकिन उनमें इतना आत्मविश्वास नहीं है कि वे भारतीय भाषाओं या अपनी मातृभाषाओं में भी उसी तरह के पाठ का निर्माण कर सकें। इस लिए वे इसका प्रयास भी नहीं करते। इस प्रकार बहुत लोग हैं, जो आसान रास्ता चुनते हैं। इसका एक कारण यह भी है कि चूँकि अँग्रेजी में अंतर्वस्तु के निर्माण का काम इतना हो गया है, कि आगे उस पर काम करना आसान होता है, जबकि हमारी भाषाओं में किसी जटिल प्रयोग-क्षेत्र पर काम करने के लिए शुरू से काम करना पड़ता है, कोई आधार पहले से उपलब्ध नहीं होता है। इसमें पारिभाषिक शब्दों का अभाव है। भाषा की अपनी संरचना में चिकित्सा, अभियांत्रिकी, तकनीक, वाणिज्य एवं बाजार आदि प्रयोग-क्षेत्रों के शब्दों के निर्माण में कठिनाई आती है और उसी से लोग बचना चाहते हैं। बहुत लोग इसमें रुचि नहीं लेते। अँग्रेजी की तुलना में भारतीय भाषाओं में निहित अंतर्वस्तु की मात्रा एवं स्तर का काम होने का यह एक बहुत बड़ा कारण है।

**अरिमर्दन – भारत की सत्ता-संरचना में भाषा और बोली के आंतरिक संबंधों को कैसे व्याख्यायित किया जाना चाहिए ?**

**उदय नारायण सिंह-** भाषा और बोली के संबंधों में जो अस्पष्टता है, यह प्रवृत्ति सिर्फ भारत की नहीं, बल्कि वैश्विक है। इसको निर्धारित करना एक कठिन काम है। कभी-कभी यह भी देखा गया है कि एक ही भाषा दो अलग-अलग नामों से पहचानी जाती हैं। इसका उदाहरण जर्मन और डच हैं जो अलग-अलग रूपों में विख्यात हैं, जबकि इनमें कोई विशेष अंतर नहीं है। इसके साथ एक ही भाषा के कई ऐसे रूप (उपभाषाएँ) भी हैं, जिनमें बहुत अंतर होने की बावजूद वे एक भाषा के रूप में विख्यात है। जैसे चिटगांव में बोली जाने वाली बांग्ला, सिलहेट की बांग्ला, ढाका की बांग्ला और मानक बांग्ला में बहुत अंतर है, इसके बावजूद इन सबको बांग्ला के नाम से ही जाना जाता है। ऐसे में हमारे पास कोई सर्वमान्य मानक नहीं है, जिससे इनको निर्धारित किया जा सके। हिंदी की जो 49 उपभाषाएँ या बोलियाँ हैं, इनके आपसी संबंधों की जो नजदीकी या दूरी है, उनमें पर्याप्त विविधता है, जिसको निर्धारित करने की अलग-अलग प्रविधि हो सकती है। एक भाषा से दूसरी भाषा, एक बोली से दूसरी बोली को स्पष्ट करने के कई तरीके हो सकते हैं। हर भाषा के लिए हमको तय करना पड़ेगा कि किस भाषिक रूप को हम उपभाषा या बोली कहेंगे और कौन-सा भाषिक रूप अब हिंदी से निकलकर अलग एक भाषा के रूप में अपने आप को प्रतिष्ठित कर चुकी है, जैसे-राजस्थानी और भोजपुरी। इस प्रकार भाषा और बोली के संदर्भ में हर भाषा के लिए के कोई नियम लागू कर देना कठिन काम है।

**अरिमर्दन – उत्तर-आधुनिक साहित्यिक प्रवृत्तियों के संदर्भ में कथ्य एवं शिल्प के मध्य भाषा के महत्त्व को आप कैसे देखते हैं ?**

**उदय नारायण सिंह-** उत्तर-आधुनिकता को परखने के लिए भाषा एवं साहित्यिक संदर्भों को हम दो रूप में देख सकते हैं। इसके साथ हमें यह भी देखना होगा कि उत्तर-आधुनिकता की पश्चिमी बहस से समानांतर हमारी उत्तर-आधुनिक प्रवृत्तियों में अंतर है। पश्चिम में आज अतिरेकी घोषणाओं का फैशन चल पड़ा है, जैसे विचारों के अंत की घोषणा आदि, जबकि हमारे यहाँ इसी समय साहित्य में उन सार्वभौमिक प्रवृत्तियों को समझने का प्रयास हो रहा है, जो अपने स्वरूप में मुखर हैं। इनको समझना आवश्यक एवं ग्रहण करना हमारे लिए रोचक है, कैसे हम अपने सीमित शब्दावली के साथ असीमित रचनात्मकता की ओर बढ़ रहे हैं और इससे सीमित प्रयोग-क्षेत्रों का विस्तार हम कैसे कर पा रहे हैं। उत्तर-आधुनिकता अभी संक्रमण काल

में है, जो भारतीय साहित्य के लिए एक बड़ी चुनौती है। यह भी देखा गया है कि जब शहरी साहित्यकार एक ही तरह के प्रयोगों, रूपकों और विशेषणों का प्रयोग करते-करते थक गए हैं, तब अचानक किसी गाँव के संदर्भ से आकर किसी छोटे शहर या कस्बे को प्रकट करने के क्रम में नई कहानियाँ, नए तरह की प्रस्तावना, नए तरह के मुहावरों की व्याप्ति भाषाओं में हुई है, जिससे उस साहित्य में व्यापक परिवर्तन भी आया है। अब उत्तर-आधुनिक संदर्भों में अपने परिवेश एवं विरासत में इसको समझने का प्रयास हो रहा है। इस प्रकार उत्तर-आधुनिकता को समझने के पश्चिमी दृष्टिकोण के विपरीत हमारी अपनी दृष्टि है, जो पश्चिमी मान्यताओं के विपरीत है, इसे उत्तर-आधुनिकता की मूल बहस में शामिल करना चाहिए।

**अरिमर्दन – “भारतीय भाषाओं का नया सर्वेक्षण” (NLSI) की आपकी योजना सफल तैयारी के बावजूद आगे क्यों नहीं बढ़ पाई?**

**उदय नारायण सिंह-** यह एक लंबी कहानी है, जिसमें से अनेक पक्ष सामने नहीं आने चाहिए, फिर भी संक्षेप में कहा जा सकता है कि देश में जो दो बार भाषाई सर्वेक्षण के प्रस्ताव सामने आए, उनमें पहली बार 1950-52 में लिङ्ग्विस्टिक सोसाइटी ऑफ इंडिया के ओर से हमारे अग्रज एवं गुरुजन एस. एम. कत्रे, शिवकुमार सेन एवं सुनीति कुमार चटर्जी आदि ने प्रस्तावित किया था, इस पर 1954 में भारत सरकार के सामने बहस हुई थी कि ग्रियर्सन द्वारा किए गए भाषाई सर्वेक्षण को पचास साल हो गए हैं, इस बीच एक विश्वयुद्ध भी हो चुका है, बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया है, जिनको नए सिरे से समझने के लिए भारतीय भाषा सर्वेक्षण किया जाए। इस पर 1956-57 तक के तत्कालीन कांग्रेस सरकार की आंतरिक बहसों के साक्ष्य यह बताते हैं, कि सरकार का मानना था कि यदि देश में भाषाई सर्वेक्षण हुए, तो इसके टुकड़े-टुकड़े हो जाएंगे, ऐसा सुझाव गोविंद पल्लभ पंत से नेहरू जी को दिया था। परिणाम स्वरूप वह सर्वेक्षण नहीं हो सका। इसको यदि आज के संदर्भ में देखें तो यह बहुत ही निराशाजनक कदम था। जिसमें सरकार की अपनी कमजोरी छिपी है। जिस देश को हासिल करने के लिए हम 100 सालों तक लड़े, हजारों लोगों का बलिदान हुआ, वहीं आप आँख मूँदकर कुछ द्वितीयक स्रोतों के आधार पर सामाजिक-आर्थिक योजनाएँ बना रहे हैं, यह जाने बिना कि हमारी कितनी भाषाएँ हैं, कितनी संस्कृतियाँ हैं, उनकी अपनी चुनौतियाँ क्या हैं, संभावनाएँ एवं सीमाएँ क्या हैं। तब तक उपलब्ध ग्रियर्सन का भाषा-सर्वेक्षण महत्वपूर्ण था, लेकिन

परिस्थितियों की तत्कालीन व्याख्या करने में पूरी तरह समर्थ नहीं। अब 1954 तक के भाषावैज्ञानिक विकास एवं पारिस्थितिकीय परिवर्तन को निरूपित करने में 50 साल पुराने काम को कैसे आधार बनाया जा सकता है? जैसे अश्वथामा को दूध के बजाय कुछ और खिलाकर कहा गया कि यही दूध है और इसको आप मान लो। यही स्थिति आज हमारी भी है। इसके बाद विचार हुआ कि बोली-भाषा की बात छोड़कर हमें केवल मातृभाषाओं की गणना करनी चाहिए और 1961 की जनगणना के माध्यम से संसद में 1652 मातृभाषाओं के होने की घोषणा हुई। अब सवाल यह था कि 1961 से 50 साल और ग्रियर्सन के सर्वेक्षण से 100 साल बीत जाने के बाद मैंने नए सर्वेक्षण का प्रस्ताव रखा था। जो सरकार एक समय यह सोचती थी कि भाषाओं के सर्वेक्षण के बाद देश के टुकड़े-टुकड़े हो जाएंगे और राज्य पुनर्गठन आयोग के माध्यम से राज्यों की संख्या कम करने पर आमदा थी, उसी ने आज इतने सारे प्रदेश बनाए हैं। जिसमें भाषाई विवादों से अधिक दूसरे ही कारण हैं। ऐसे में जब मैंने “भारतीय भाषाओं का नया सर्वेक्षण” का प्रस्ताव रखा, तो तत्कालीन मानव संसाधन विकास मंत्री ने 13 बार संसद में घोषणा की थी, यह कार्य आगे बढ़ाया जाएगा, योजना आयोग ने भी इस प्रस्ताव अभूतपूर्व बताते हुए इसकी अनुमति दे दी थी। लेकिन इसी बीच रजिस्ट्रार जनरल और गृह मंत्रालय की ओर से विरोध शुरू हुआ और मुझे स्पष्टीकरण के लिए बुलाया गया। तत्कालीन गृहमंत्री शिवराज पाटिल जी को जब यह समझाया गया कि यह सर्वेक्षण क्यों आवश्यक है, तो उनकी टिप्पणी थी कि ‘अब तक क्यों नहीं हुआ है?’ स्पष्ट है कि उन्हीं के मंत्रालय में पड़े पुराने फैसलों के बारे में उनको नहीं पता था और इस तरह यह प्रयास भी वहीं रुक गया, जो तत्कालीन सरकार की कमजोरी का ही परिणाम था। जिस दल ने स्वतंत्रता-प्राप्ति से लेकर इतने दिनों तक देश पर शासन किया है, नीतियाँ बनाई हैं, वही इस बात से डर गई की सर्वेक्षण के परिणामों के बाद देश की एकता को खतरा होगा, और अंधी बनकर पुराने आँकड़ों के आधार पर देश की योजनाएँ चलाती रही। पुराने आँकड़ों के आधार पर बनाए गई योजनाओं को लेकर कई बार उसे उच्चतम न्यायालय की डांट भी सुनने को मिली है। यह सिर्फ भाषावैज्ञानिकों का ही अपमान नहीं था, बल्कि यह देश का भी अपमान था। इसके बाद आज कई सर्वेक्षण अलग रूपों में देखने को मिल रहे हैं, और वे अलग-अलग तरह से आलोचना भी करते हैं, लेकिन मुझे लगता है कि “भारतीय भाषाओं का नया सर्वेक्षण” की प्रस्तावित प्रक्रिया इन सबसे अलग थी, जिसमें देश



के सैकड़ों भाषाविदों की भी भूमिका थी। मैं समझता हूँ कि आज भी यह काम महत्वपूर्ण है और होगा भी। अंतर यह होगा कि हम और हमारी पीढ़ी उसमें नहीं होगी। किसी सरकार को तो इतिहास की भूलों को सुधारने की जिद होगी।

**अरिमर्दन – देश में एक तरफ तो लोक-भाषाओं के संरक्षण एवं विकास की बात हो रही है, तो दूसरी तरफ बिना किसी ठोस मानक के भाषाओं के शास्त्रीयता के दर्जे की होड़ है, इसको आप कैसे देखते हैं?**

**उदय नारायण सिंह-** इस होड़ के शुरुआती दिनों से मैं इसके साथ जुड़ा हुआ हूँ, जब पहली बार भाषा के शास्त्रीयता के निर्धारण की दो सदस्यी समिति बनी थी, तो उसका मैं एक सदस्य था, दूसरे सदस्य डा. बी. एच. कृष्णमूर्ति थे, जो दुर्भाग्य से अब जीवित नहीं हैं। इसके बाद इस समिति में 4-5 और लोगों का नाम जुड़ा। इस प्रकार जो समझ में आया वह यह कि यह मामला भाषाविज्ञान से अधिक राजनीति का है, इसीलिए हमने शास्त्रीयता के निर्धारण की शर्तों में 2000 साल पुरानी भाषा का होने की शर्त रखी थी, जिसको राजनीतिक उद्देश्य पूरा करने के लिए कैबिनेट नोट के माध्यम से घटा कर 1000 साल कर दिया गया। सबसे पहले तमिल को रखने की बात सामने आई थी, तो हमने अपने प्रत्यावेदन में संस्कृत के बारे में भी लिखा था, लेकिन सबसे पहले तमिल को घोषित किया गया। विचारणीय यह था कि तब अनेक तमिल के विद्वान इस बात पर सहमत थे कि शास्त्रीयता की शर्तों में यदि संस्कृत नहीं आती है, तो तमिल का आना उचित नहीं है। बहरहाल तब तो नहीं, लेकिन बाद में संस्कृत को भी शास्त्रीयता का दर्जा दिया गया, जो हास्यास्पद ही था। उस समय हमने इस बात पर भी विचार किया था कि शास्त्रीयता के निर्धारण में सब पर एक साथ विचार करना चाहिए, जैसे बौद्ध एवं जैन के दर्शन और उसकी भाषाओं को छोड़कर दूसरी भाषाओं को इस सूची में शामिल करना, उचित नहीं होगा। उस समय कुछ लोगों का यह भी सुझाव था कि हर भाषा का एक शास्त्रीय एवं आधुनिक रूप है, ऐसे में हमें पुराने रूपों के संरक्षण पर ध्यान दिया जाना चाहिए। लेकिन जब एक बार इस प्रक्रिया ने राजनीतिक रूप पकड़ा, तो इसे जनांदोलन के आवरण में कन्नड़ को इसमें शामिल करने माँग बढ़ी, जिसके लिए हजारों लोग तत्कालीन भारतीय भाषा संस्थान, मैसूर में मेरे कार्यालय के सामने धरना देते थे और माँग करते थे कि जब तमिल शास्त्रीय है, तो कन्नड़ क्यों नहीं। अब चूँकि इसकी शुरुआत ही गलत तरीके से की गई तो उसी आधार पर कन्नड़, तेलुगु, मलयालम और अब

उड़िया इस सूची में शामिल है, जो तत्कालीन सरकार की अदूरदर्शी नीति एवं तुष्टीकरण के कारण हुआ है। आगे इसकी माँग कहाँ जाकर रुकेगी यह कहना भी मुश्किल है।

## अरिमर्दन – देश में भाषाविज्ञान के विकास के लिए किन क्षेत्रों पर ध्यान दिया जाना चाहिए ?

**उदय नारायण सिंह-** जैसाकि मैंने पहले ही बताया है कि भाषाविज्ञान के कितने क्षेत्र हो सकते हैं, जिन पर काम नहीं हुआ है और उस पर काम होना चाहिए। इसको दूसरे अनुशासनों से जोड़कर गंभीर रूप से शोध एवं अध्ययन-अध्यापन होना चाहिए। इसमें समस्या यह है कि सरकारें उतनी संवेदनशील नहीं हैं, जितनी होनी चाहिए। भाषाई अध्ययन की सबसे बड़ी संस्था आज सरकार की उपेक्षा की शिकार है, जहाँ कभी 150 से अधिक शोधकर्ता हुआ करते थे, आज यह महज 6 शोधकर्ताओं पर आश्रित है। इतना बड़ा संस्थान जहाँ पुस्तकालय, स्टूडियो, कंप्यूटर प्रयोगशालाएँ आदि समृद्ध हैं, वह आज खाली-खाली लगता है, जबकि पुराने समय की तुलना में आज भाषाई अध्ययन चुनौतियाँ एवं आवश्यकताएँ अधिक हैं। इसके साथ भाषा के लिए कार्यरत अन्य सभी संस्थाओं में आमूल-चूल परिवर्तन की संभावना है। इसमें सरकार, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग जैसी संस्थाओं को अपना सक्रिय योगदान निभाना चाहिए, ताकि भाषाएँ राष्ट्र-निर्माण में काम आएँ और उनमें आंतरिक विभाजन दूर हो।

## अरिमर्दन – साहित्यकार एवं भाषाविद दोनों में से एक को चुनना हो तो आप किसे चुनेंगे?

**उदय नारायण सिंह-** एक अच्छा पति, एक अच्छा बाप भी बन सकता है, एक अच्छा भाई भी बन सकता है। यह इस पर निर्भर करता है कि वह अपनी सभी भूमिकाओं का निर्वहन कितनी ईमानदारी से करता है। एक आदमी सफल प्रशासक भी हो सकता है, अच्छा गीतकार भी हो सकता है, अच्छा साहित्यकार भी हो सकता है। एक ही व्यक्ति में अनेक गुण हो सकते हैं। इसलिए मेरे लिए इस चयन का सवाल ही नहीं है।